अक्टूबर १९९० हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

सुपटिवेधन

अभय राजकुमार को भगवान द्वारा दी गयी सम्यक् वाणी की धर्ममयी व्याख्या प्रिय लगी और श्रेयस्कर भी। उस समय उसके मन में एक और प्रश्न उठा, जिसे वह भगवान से पूछे बिना नहीं रह सका।उसने अपनी जिज्ञासा भगवान के सामने प्रगट की –

"भन्ते भगवान! आप के पास अनेक ब्राह्मण श्रमण और गृहस्थ विद्वान आते हैं और विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछते हैं। क्या आप इस बात का चिंतन मनन करते रहते हैं कि मुझसे कोई इस प्रकार का प्रश्न पूछेगा तो मैं उसे ऐसा उत्तर दूंगा अथवा बिना पूर्व चिंतन मनन किए ही, पूछे जाने पर तत्क्षण जो सही और स्पष्ट होता है, वह उत्तर आप निष्प्रयास दे देते हैं?"

इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले भगवान ने फिर उसी से प्रतिप्रश्न किया- "राजकुमार!यह जो तुम्हारा रथ है, क्या तुम इसके अंग-प्रत्यंग को भली प्रकार जानते हो?"

"हां भगवान, मैंने इसका भरपूर प्रयोग किया है। स्वानुभव से मैं इसके अंग-प्रत्यंग को ख़ूब जानता हूं।"

"तो राजकुमार!क्या तुम यह चिंतन मनन करते रहते हो कि कभी कोई मुझसे इसके किसी अंग के बारे में प्रश्न पूछेगा तो मैं उसे ऐसा-ऐसा उत्तर दूंगा।"

"नहीं भगवान, इसके लिए चिंतन मनन कैसा!इसे मैं अपने अनुभव से ख़ूब जानता हूं। इसके बारे में मुझे जब कभी जो भी प्रश्न करे, मैं तत्क्षण वही उत्तर दूंगा जो कि सही और स्पष्ट है। अनुभव सिद्ध यथार्थ बात कहने में चिंतन मनन की क्या आवश्यकता?"

"ठीक ऐसे ही है राजकुमार!जैसे कोई रथी अपने रथ के अंग-प्रत्यंग के बारे में स्वानुभव द्वारा बखूबी जानता है और रथ के किसी अंग के बारे में कोई प्रश्न करे तो झट सही उत्तर दे देता है। उसे इसके लिए पहले से चिंतन मनन नहीं करना पड़ता। वैसे ही तथागत ने धर्मधातु को याने धर्म के गुण स्वभाव को बींध-बींधकर, विघटन कर-करके, विभाजन कर-करके अलग-अलग कर-करके भली भांति देख लिया, स्वानुभव से जान लिया है। अतः धर्म संबंधी किसी प्रश्न के पूछे जाने पर, उन्हें चिंतन मनन करके उत्तर देने की आवश्यकता नहीं होती। उस विषय को ख़ूब अच्छी तरह जानते हैं। अतः तत्क्षण सही स्पष्ट उत्तर दे देते हैं। सच बोलने के लिए चिंतन मनन की आवश्यकता नहीं होती।"

भगवान के इस विवेचन ने अभय राजकुमार को और अधिक श्रद्धाविभोर कर दिया। भगवान की महानता और सर्वज्ञता के बारे में उसके मन में रंचमात्र भी संदेह नहीं रह गया। विरोधी पक्ष द्वारा उनके बारे में जो भी मिथ्या दोषारोपण किये गये थे, उन सबका सहज निराकरण हो गया, उन्मूलन हो गया।

अत्यंत श्रद्धाविनीत हो उसने भगवान को पुनः पंचांग प्रणाम किया और हर्षोद्गार भरे शब्दों में अपनी आस्था प्रगट करते हुए बोला, "अद्भुत है भगवान, आश्चर्यजनक है भगवान, आपने धर्म को इतने स्पष्ट शब्दों में समझाया, जैसे कोई औंधे को सीधा करके दिखा दे, ढके को उघाड़ कर दिखा दे, जैसे कोई अँधेरे में दीपक जला दे, जिससे कि आंखवाले सच्चाई स्वयं देख सकें।मैं धन्य हुआ भगवान! आज से मैं त्रिरत्न की शरण ग्रहण करता हूं। आज से मुझे अपना आजन्म अनन्य उपासक स्वीकार करें।"

सचमुच अभय राजकुमार धन्य हुआ।

***

साधको, उपरोक्त वार्तालाप में दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। **'धम्मधातु सुप्पटिविद्धो'**। धर्म माने प्रकृति, धातु माने स्वभाव। प्रकृति के स्वभाव का सुपटिवेधन। याने उसे भली प्रकार वेधन करके ,बींध करके जान लेना। जैसे परियत्ति (पर्यापत्ति) ज्ञान को कहते हैं। पटिपत्ति (प्रतिपत्ति) इस ज्ञान के मार्ग पर प्रतिपादन करने को कहते हैं, चल पड़ने को कहते हैं। वैसे ही पटिवेधन (प्रतिवेधन) सच्चाई को बींधकर देखने को कहते हैं। यही विपश्यना है। बिना विपश्यना किये अनुभूति के स्तर पर बींधने का काम कदापि नहीं हो सकता।विपश्यना का अभ्यास शुरू करते ही पटिवेधन का काम शुरू हो जाता है। विपश्यना साधना की फलश्रुति पटिवेधन की अंतिम परिणति है।

धातु छह प्रकार की होती हैं। पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु और आकाश - यह पांच भौतिक धातुएं कहलाती हैं। इन्हें रूपधातु भी कहते हैं। और विज्ञान याने चित्त एक धातु है, जिसे नामधातु भी कहते हैं। विपश्यना साधना करता हुआ साधक अपने भीतर होनेवाली घनीभूत संवेदनाओं को तटस्थ भाव से देखता है तो स्वतः उनका बींधन आरंभ हो जाता है। बींध-बींध कर उस अवस्था पर पहुँचता है, जहां जान लेता है कि सभी धातुएं तरंगें ही तरंगें हैं, अनित्य स्वभाववाली, उदय-व्यय स्वभाववाली हैं और जिन पर अपना रंचमात्र भी अधिकार नहीं। इस नामरूप के प्रपंच को यों देखते हुए, विभाजन करते हुए, साधक तटस्थ भाव से याने प्रज्ञापूर्ण उपेक्षा भाव से आगे बढ़ता चलता है तो उसका चित्त विकार-विहीन होने लगता है, निर्मल होने लगता है और अंततः एक अवस्था आती है जब कि विपश्यना के पुष्ट होने पर, संस्कारों के निष्कासन होने पर, नाम और रूप के परे, चित्त और शरीर के परे, इन छहों धातुओं के परे परम सत्य निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है; जो कि नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है, अमृत है। बींध- बींध कर अनुभूतियों द्वारा जान लेता है, नितांत विमुक्त अवस्था तक पहुँच जाता है, तो ही **सुपटिविद्धत्ता** कहलाता है। याने जिसने पूरी तरह भली भांति प्रतिवेधन कर लिया। अब इस व्यक्ति से धर्म संबंधी कोई प्रश्न करे तो उसको चिंतन मनन करने की, तर्क-वितर्क करने की, ऊहापोह करने की आवश्यकता नहीं रहती। जैसे मेरे सामने यह टेबल है और कोई प्रश्न करे कि यह क्या है? तो 'यह टेबल है' ऐसा उत्तर देने में चिंतन मनन की, तर्क वितर्क की, ऊहापोह की कहां आवश्यकता रहती है? ऐसे ही हाथ में यह कलम है। 'कलम है' ऐसा बताने में मुझे कहां कठिनाई होती है? क्या कल्पना करनी पड़ती है? क्या सोचना पड़ता है? जैसे हथेली पर आंवला रखा हो और उसे चारों ओर से घुमा फिराकर देख लिया हो, तो 'यह आंवला है' ऐसा कहने में किसी को भी क्या कठिनाई हो सकती है? इसी प्रकार विपश्यना द्वारा प्रकृति को, कुदरत को, उसके नियमों को अपनी प्रज्ञा द्वारा बींध-बींध कर देख लिये जाने के बाद उसके बारे में उत्तर देते हुए कहीं कोई हिचकिचाहट नहीं होती। जहां जान बूझ कर झूठ बोलना हो, छल कपट द्वारा किसी को धोखा देना हो अथवा किसी अननुभूत काल्पनिक मान्यता को सत्य सिद्ध करना हो तो बहुत सोचना पड़ता है, मन ही मन तर्क -वितर्क करना पड़ता है। जिस सच्चाई को स्वयं अनुभव द्वारा बींध- बींध कर जान लिया हो, उसके लिए इन सब की कहां आवश्यकता होती है?

साधकों, आओ! धर्म को बींध-बींध कर देखना सीखें और सुपटिवेधन की अंतिम अवस्था को प्राप्त कर अपना कल्याण साध लें।

कल्याण मित्र,

स.ना.गो.

स्थाई पीड़ा का उपचार और विपश्यना साधना

[लेखक : डॉ. जार्ज पोलैंड - क्यूबेक, कनाडा]

विपश्यना साधना का उद्देश्य मन को दुःख से मुक्त करना है, न कि रोगों की निवृत्ति। फिर भी साधना और वैद्यक का एक साझा लक्ष्य है, और वह यह कि रोगी के कष्ट का निवारण। चिकित्सक इस कष्ट निवारण के लिए भिन्न-भिन्न प्रयोग करता है। प्रत्येक चिकित्सा पद्धति में इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न ढंग हैं। परंतु मूलतः सब का एक ही तरीका है कि कष्ट के कारण का पता लगाना और उस कारण को दूर करना; इससे स्वयंमेव कष्ट का निवारण हो जायगा। न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी!

किसी भी आकस्मिक संक्रामक रोग का उपचार करते हुए डॉक्टर रोग के मूल कारण को खोजता है, जिसके निवारण से रोगी चंगा हो जाय। इसके साथ-साथ वह रोगी की पीड़ा और कष्ट को कम करने के उपायों का भी प्रयोग करता है। मान लीजिए रोगी के गले में खराबी है। सूजन और पीड़ा तथा ज्वर है तो डॉक्टर उस रोग को उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं (bacteria) का नाश करने के लिए जीवाणुनाशक औषधियां (antibiotics) देता है और उनके साथ ज्वर कम करने और पीड़ा कम करने के हेतु पीड़ा-नाशक दवाएं भी देता है- जैसे क्रोसिन, ऐस्परिन आदि आदि। इस क्रिया के मिले-जुले प्रभाव से रोगी स्वस्थ हो जाता है।

परंतु स्थाई अथवा चिरकालिक पीड़ा के रोगी को इससे भिन्न प्रकार के उपचार का आश्रय लेना पड़ेगा। इस समूह के रोगी किसी असाध्य रोग से ग्रसित होते हैं, जिसके कारण वह पीड़ा बार-बार होती है अथवा स्थाई होती है। अब चूंकि रोग असाध्य है तो उसके मूल कारण के निवारण का प्रश्न ही नहीं उठता और रोगी की सहायता के लिए कोई दूसरा उपाय ढूंढना होगा।

इस उपाय की तलाश करने के पहले हमें पीड़ा या कष्ट और दुःख या क्लेश का भेद समझना होगा। कष्ट या पीड़ा एक शारीरिक संवेदना है जो कम या अधिक होती है और दुःख या क्लेश एक मानसिक स्थिति है, जो उस पीड़ा की संवेदना के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो जो हम वास्तव में अनुभव करते हैं उस संवेदना में तथा जो हम चाहते हैं वैसी स्थिति में जो भेद है यही दुःख या क्लेश है। पीड़ा की अनुभूति तो है ही, पर हम चाहते हैं कि वह वैसी न होकर हमारे मनचाही हो; बस, यही दुःख या क्लेश की वजह है। यह जो प्रतिक्रिया है दुःख के प्रति, वही उस स्थाई पीड़ा की जनक है। यह शारीरिक पीड़ा या कष्ट अब मानसिक पीड़ा या दुःख बन जाती है और एक दुष्चक्र की स्थापना हो जाती है।

सामान्यतया शारीरिक पीड़ा के शमन करने के लिए ऐसी दवाएं दी जाती हैं कि रोगी उस पीड़ा को अनुभव न करे। पीड़ा तो है ही, क्योंकि उसका कारण मूल रोग कायम है। वह तो जायगा नहीं; परंतु उसके कारण होनेवाली पीड़ा की अनुभूति को कम करने का प्रयत्न किया जाता है। यह उपाय सराहनीय नहीं है, क्योंकि इन औषधियों के हानिकारक प्रभाव भी हैं तथा धीरे धीरे इन औषधियों की पीड़ा-शमन की क्षमता भी न्यून होती जाती है और दवा की मात्रा में बढोतरी करनी होती है। इस तरह धीरे-धीरे इन दवाओं की आदत ही लग जाती है, जिनका और भी बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए ज्यादा समझदारी की बात यह है कि शारीरिक पीड़ा-निवारण के बजाय मानसिक दुःख-निवारण किया जाय।

इस दुःख-निवारण के लिए आवश्यक है कि रोगी इस पीड़ा को साक्षी-भाव से देखना सीखे। जैसी स्थिति है, उसे वैसे ही स्वीकार करे। उसके प्रति कोई प्रतिक्रिया न करे। भोक्ताभाव के बदले द्रष्टाभाव रखे। वैसे तो यह कहना आसान है और करना ज्यादा कठिन है। परंतु मैंने अपने अनुभव से देखा है कि उचित सलाह-परामर्श तथा बराबर प्रोत्साहन देते रहने से रोगी वर्तमान में जीना सीख लेता है। जैसे-जैसे वह इस पीड़ा को देखने और इसके प्रति थोड़ी-थोड़ी भी समता से रहना सीखता है, वैसे-वैसे यह अनुभव करने लगता है कि दुःख को सहने में ज्यादा सशक्त हो गया है।

मेरे रोगियों में स्थाई पीड़ा के रोगी अधिकतर गठिया (आर्थराइटिस), अधसीसी (माइग्रेन), कमर-दर्द आदि से पीड़ित होते हैं। उन्होंने हमारे पास आने के पहले पीड़ा-निवारक सभी दवाओं का पर्याप्त प्रयोग कर लिया होता है, पर निष्फल। पीड़ा पीड़ा ही बनी रहती है। हमारे चिकित्सालय में उनका जो उपचार होता है, उसमें एक्युपंचर, फिजियोथेरापि, भौतिक चिकित्सा तथा साधना (आनापान एवं विपश्यना का स्थूल अभ्यास) का सम्मिश्रण होता है। परंतु हम यहां इस प्रयोग में साधना के लाभ की ओर ही संकेत करेंगे और उसी पर बल देंगे। रोगी को आनापान (अपने श्वास-प्रश्वास की जानकारी) सिखायी जाती है, जिससे उसका मन वर्तमान में स्थित रहे। इस प्रकार उसका मन भूत और भविष्य में विचरण से विरत होता है। अर्थात, उसका ध्यान रोग की ओर से हट जाता है। रोग का ध्यान या चिंता ही मानसिक तनाव बढ़ाती है और दुःख का कारण बनती है। इस तरह श्वास-प्रश्वास का ध्यान उस तनाव को दूर करता है और परिणामस्वरूप दुःख को भी।

इसके अतिरिक्त हम Trans-cutaneous Electrical Nerve Stimulation (T.E.N.S) यानी पीड़ा के स्थान पर विद्युत की हल्की तरंग (करंट) द्वारा प्रकंपन पैदा करते हैं। वह भी इतनी ही शक्ति की करंट, जो रोगी सरलता से सह सके। यह क्रिया २०-३० मिनट तक की जाती है। इसके दौरान रोगी को शरीर ढीला रखकर, निश्चल लेटे रहने को कहा जाता है और उसे सुझाव दिया जाता है कि जब मन इधर-उधर या पीड़ा की ओर जाय तो श्वास-प्रश्वास पर ध्यान करे या उस करंट द्वारा हो रहे प्रकंपन (vibration) का अनुभव करे। इस प्रकार रोगी या तो आनापान का अभ्यास करता है या फिर स्थूल संवेदना (शरीर पर होने वाले प्रकंपन) का; और धीरे-धीरे वह पीड़ा और प्रकंपन के प्रति समता में आ जाता है। उसकी जो पुरानी द्वेषपूर्ण प्रतिक्रिया करने की आदत थी, उससे छुटकारा पा जाता है। यद्यपि एक्युपंचर से भी लाभ होता है परंतु मेरे विचार से रोगी को विशेष लाभ पीड़ा के प्रति संवेदनशील और समता की भावना से ही होता है। रोगियों के अनुभव से ज्ञात होता है कि उनकी पीड़ा कम हो गयी, मानसिक तनाव और बेचैनी में भी कमी आयी है, विषाद (depression) में भी लाभ हुआ है। नींद भी अच्छी आने लगी है। मन का यह बदलाव उनके दुःख के मूल पर प्रभाव डालता है। जो लोग घर जाकर एक्युपंचर के बिना ही विद्युत तरंगों का तथा/अथवा (साधक) साधना का ही अभ्यास करते रहे, उन्हें और भी लाभ हुआ।

यह ठीक है कि विपश्यना साधना शारीरिक व्याधियों के उपचार के लिए नहीं है। फिर भी यह सत्य है कि भगवान गौतम बुद्ध एक महान वैद्य भी माने जाते थे। बुद्ध के अनुसार सब प्राणी एक असाध्य रोग से पीड़ित हैं - वह है जन्म (जाति) - जिसका व्याधि, पीड़ा और दुःख से गहन संबंध है। उन्होंने इस रोग निवारण के लिए 'धर्म' नामक औषधि का नुस्खा अढाई हजार वर्ष पहले दिया था, जो आज भी उतना ही उपयोगी है।

जो भी विपश्यना साधना उचित ढंग से करेगा, वह अवश्यमेव क्लेश से बाहर निकलेगा और दुःख से भी।

अनुवादक – डॉ. ओमप्रकाश

सी-३४, पंचशील एन्क्लेव, नई दिल्ली - १०००१७.

(लेखक डॉ. जार्ज पोलैंड, विपश्यना साधना के वरिष्ट सहायक आचार्य भी हैं। यह लेख मार्च १९९० में इगतपुरी में हुई संगोष्ठी में पढ़ा गया था।)